आदर्श श्रमण-जीवन का स्वरूप

प्रो. सागरमल जैन

एक आदर्श जैन श्रमण के स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए इस आलेख में डॉ. सागरमल जी ने बौद्ध श्रमण की विशेषताओं से भी परिचित कराया है तथा जैन श्रमणाचार की कठोरता, निवृत्तिपरकता आदि के कारण उठने वाले आक्षेपों का सुन्दर एवं तार्किक निराकरण किया है। बौद्ध श्रमण-परम्परा की अपेक्षा जैन श्रमण-परम्परा की श्रेष्ठता के साथ उन्होंने समाज में नैतिक-व्यवस्था हेतु उनकी भूमिका का महत्त्व प्रतिपादित किया है।**-सम्पादक**

आदर्श जैन-श्रमण का स्वरूप

बुद्धिमान पुरुषों के उपदेश से अथवा अन्य किसी निमित्त से गृहस्थाश्रम को छोड़कर जो त्यागी भिक्षु सदैव ज्ञानी महापुरुषों के वचनों में लीन रहता है, उनकी आज्ञानुसार ही आचरण करता है, नित्य चित्त को समाधि में लगाता है, स्त्रियों के मोहजाल में नहीं फँसता और वमन किए हुए भोगों को फिर भोगने की इच्छा नहीं करता, वही आदर्श भिक्षु है। जो साधु ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर के उत्तम वचनों में रुचि रखते हुए सूक्ष्म तथा स्थूल- दोनों प्रकार के षट् जीवनिकायों (प्रत्येक प्राणिसमूह) को आत्मवत् मानता है, पाँच महाव्रतों का धारक होता है और पांच प्रकार के पापाचारों (मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय तथा अशुभयोग के व्यापार) से रहित होता है, वही आदर्श साधु है। जो ज्ञानी साधु, क्रोध, मान, माया और लोभ का सदैव वमन करता रहता है, ज्ञानी पुरुषों के वचनों में अपने चित्त को स्थिर लगाए रहता है और सोना, चांदी, इत्यादि धन को छोड़ देता है, वही आदर्श साधु है। जो मूढ़ता को छोड़कर अपनी दृष्टि को शुद्ध (सम्यक्दृष्टि) रखता है; मन, वचन और काय का संयम रखता है; ज्ञान, तप और संयम में रहकर तप द्वारा पूर्व संचित कर्मों का क्षय करने का प्रयत्न करता है, वही आदर्श भिक्षु है तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के आहार, पानी, खाद्य तथा स्वाद्य आदि सुन्दर पदार्थों की भिक्षा को कल या परसों के लिए संचय करके नहीं रखता और न दूसरों से रखवाता ही है, वही आदर्श भिक्षु है। जो साधु कलहकारिणी, द्वेषकारिणी तथा पीड़ाकारिणी कथा नहीं कहता, निमित्त मिलने पर भी किसी पर क्रोध नहीं करता, इन्द्रियों को निश्चल रखता है, मन को शान्त रखता है, संयम में सर्वदा लीन रहता है तथा उपशम-भाव को प्राप्त कर किसी का तिरस्कार नहीं करता, वही आदर्श भिक्षु है। जो कानों को काँटे के समान दुःख देने वाले आक्रोश वचनों, प्रहारों, और अयोग्य उपालम्भों (उलाहनों) को शान्तिपूर्वक सह लेता है, भयंकर एवं प्रचंड गर्जना के स्थानों में भी जो निर्भय रहता है और सुख तथा दुःख को समतापूर्वक भोग लेता है, वही आदर्श भिक्षु है। जो साधु मास आदि की प्रतिमा, यानी अभिग्रह स्वीकार कर श्मशान में

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

अत्यन्त भयंकर दृश्यों को देखकर भी नहीं डरता है, मूलगुण आदि में और तपों में रत रहता है तथा ममता से शरीर को भी वर्तमान और भविष्य के लिए नहीं चाहता है, वह भाव-भिक्षु है। जो साधु अनेक बार कायोत्सर्ग करता है, अर्थात् शरीर की ममता को छोड़कर शोभा को त्यागता है तथा गाली सुनकर, मार खाकर या कुत्ते आदि के काटने पर भी जो पृथ्वी के समान क्षमाशील, सब कुछ सह लेने वाला होता है तथा जो किसी प्रकार का निदान-नियाण नहीं करता है और कौतूहल देखने-सुनने की तीव्र इच्छा से दूर रहता है, वह मुनि भावसाधु है। फिर, शरीर से परीषहों को जीतकर जो साधु जन्ममरणरूप संसारमार्ग से अपनी आत्मा को ऊपर उठा लेता है और जन्ममरण को अत्यन्त भयंकर समझकर श्रमणाचार व तप में लगा रहता है, वही भावभिक्षु है। जो साधु हाथों से संयत है, चरणों से संयत है तथा वचनों से संयत है और इन्द्रियों से संयत है तथा जो धर्मध्यान में लगा रहने वाला और समाधियुक्त आत्मा वाला है तथा जो सूत्रार्थों को समझता है, वह भावसाधु है। जो साधु अपने वस्त्र-पात्र आदि भण्डोपकरणों में भी ममता और प्रतिबन्धरूप लोभ से रहित है तथा बिना परिचय के घरों में भिक्षा के लिए जाता है व संयम को निस्सार बनाने वाले पुलाक व निष्पुलाक-दोषों से दूर रहता है तथा खरीद, बिक्री व संचय आदि से विरत रहता है और जो सब प्रकार से संगों के मुक्त है, वह साधु भावभिक्षु है। जो साधु नहीं मिली हुई चीजों में लोलुपता नहीं रखता तथा मिले हुए रसों में आसक्ति भी नहीं रखता है और भावविशुद्ध गोचरी करता है तथा जो असंयमी-जीवन को नहीं चाहता है और जो स्थिरचित्त होकर लब्धिरूप ऋद्धि, वस्त्रादि के सत्कार तथा स्तुति आदि से पूजा की भी आशा नहीं रखता है, वह भावसाधु है। जो साधु न जाति से मत्त बनता और न रूप से तथा जो लाभ में भी मद नहीं करता एवं श्रुतज्ञान का भी अभिमान नहीं रखता है और जो सब प्रकार के गर्वों को छोड़कर धर्मध्यान में लगा रहता है, वह भावभिक्षु है। जो महामुनि सच्चे धर्म का ही मार्ग बताता है, जो स्वयं सद्धर्म पर स्थिर रहकर दूसरों को भी सद्धर्म पर स्थिर करता है, त्याग-मार्ग ग्रहण कर दुराचारों के चिह्नों को त्याग देता है (अर्थात् कुसाधु का संग नहीं करता) तथा किसी के साथ ठिठोली, मसखरी आदि नहीं करता, वही सच्चा भिक्षु है। (ऐसा भिक्षु क्या प्राप्त करता है?) ऐसा आदर्श भिक्षु सदैव कल्याणमार्ग में अपनी आत्मा को स्थिर रखकर नश्वर एवं अपवित्र देहावास को छोड़कर तथा जन्म-मरण के बंधनों को सर्वथा काटकर अपुनरागति मोक्ष को प्राप्त होता है।[1]

इसी प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र में भी 'सभिक्षु' नामक अध्ययन में आदर्श भिक्षु-जीवन का परिचय वर्णित है। जिसने विचारपूर्वक मुनि-वृत्ति अंगीकार की, जो सम्यग्दर्शनादि से युक्त, सरल, निदानरहित, संसारियों के परिचय का त्यागी, विषयों की अभिलाषा रहित और अज्ञात कुलों की गोचरी करता हुआ विचरता है, वही भिक्षु कहलाता है। राग-रहित, संयम में दृढ़तापूर्वक विचरने वाला, असंयम से निवृत्त, शास्त्रज्ञ, आत्मरक्षक, बुद्धिमान्, परीषहजयी, समदर्शी, किसी भी वस्तु में मूर्च्छा नहीं करने वाला भिक्षु कहलाता है। कठोर वचन और प्रहार को जानकर समभाव से सहे, सदाचरण में प्रवृत्ति करे, सदा आत्मगुप्त रहे तथा जो अव्यग्र मन से संयममार्ग में आनेवाले कष्टों को समभाव से सहन करता है, वही भिक्षु है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जीर्ण शय्या और आसन तथा शीत, उष्ण, डाँस, मच्छर आदि अनेक प्रकार के परीषहों के उत्पन्न होने पर अव्यग्र मन से सब कष्टों को सहन करता है, वही भिक्षु है। जो पूजा-सत्कार नहीं चाहता, वन्दना-प्रशंसा का इच्छुक नहीं है, वह संयती, सुव्रती, तपस्वी, आत्मगवेषी और सम्यग्ज्ञानी ही भिक्षु कहलाता है। जिनकी संगति से संयमी-जीवन का नाश और महामोह का बंध होता है, ऐसे स्त्री-पुरुषों की संगति को जो तपस्वी सदा के लिए छोड़ देता है तथा जो कौतूहल को प्राप्त नहीं होता, वही भिक्षु है। जो छेदन-विद्या, स्वर-विद्या, भूकम्प, अंतरिक्ष, स्वप्न-लक्षण, दंड, वास्तु, अंगविचार, पशुपक्षियों की बोली जानना, इन विद्याओं से अपनी आजीविका नहीं करता- वही भिक्षु है। जो मंत्र, जड़ी-बूटी, विविध वैद्य-प्रयोग, वमन, विरेचन, धूम्रयोग, आंख का अंजन, स्नान, आतुरता, माता-पितादि की शरण और चिकित्सा-इन सबको ज्ञान से हेय जानकर छोड़ देते हैं; क्षत्रिय, मल्ल, उग्रकुल, राजपुत्र, ब्राह्मण, भोगिक और विविध प्रकार के शिल्पी, इनकी प्रशंसा और पूजा नहीं करता, इनकी सदोषता जानकर त्याग देता है, वही भिक्षु है। जो दीक्षा लेने के बाद या पहले जिन गृहस्थों को देखा हो, परिचय हुआ हो, उनके साथ इहलौकिक-फल की प्राप्ति के लिए विशेष परिचय नहीं करता, वही भिक्षु है। जो गृहस्थ के यहाँ आहार, पानी, शय्या, आसन तथा अनेक प्रकार के खादिम होते हुए भी वह नहीं दे और इनकार कर दे, तो भी उस पर द्वेष न करे, वही निर्ग्रन्थ भिक्षु है। गृहस्थों के यहाँ से आहार-पानी और अनेक प्रकार के खादिम-स्वादिम प्राप्त करके जो बालवृद्धादि साधुओं पर अनुकम्पा करता है, मन, वचन और काया को वश में रखता है, ओसामण, जौ का दलिया, ठंडा आहार, कांजी का पानी, जौ का पानी और नीरस आहारादि के मिलने पर जो निन्दा नहीं करता तथा प्रान्तकुल में गोचरी करता है, वही भिक्षु है। लोक में देव, मनुष्य और तिर्यंच संबंधी अनेक प्रकार के महान् भयोत्पादक शब्द होते हैं, उन्हें सुनकर जो चलित नहीं होता, वही भिक्षु है। लोक में प्रचलित अनेक प्रकार के वादों को जानकर जो विद्वान् साधु आत्महित में स्थिर होकर संयम में दृढ़ रहता है और परीषहों को सहन करता है तथा सब जीवों को अपने समान देखता हुआ उपशान्त रहकर किसी का बाधक नहीं बनता, वही भिक्षु है। अशिल्पजीवी, गृहरहित, मित्र और शत्रु से रहित, जितेन्द्रिय, सर्वथा मुक्त, अल्पकषायी, अल्पाहारी, परिग्रहत्यागी होकर जो एकाकी राग-द्वेष रहित विचरता है, वही भिक्षु है।[2]

बौद्ध-परम्परा में आदर्श श्रमण का स्वरूप

बौद्ध-परम्परा में सुत्तनिपात और धम्मपद में आदर्श श्रमण के स्वरूप का वर्णन है। सुत्तनिपात का कथन है- संगति से भय उत्पन्न होता है और गृहस्थी से राग, इसलिए मुनि एकान्त और गृहहीन जीवन को पसन्द करता है। जो उत्पन्न पाप को उच्छिन्न कर फिर उसे होने नहीं देता, जो उत्पन्न होते पाप को बढ़ने नहीं देता, उस एकान्तचारी शान्तिपद द्रष्टा महर्षि को मुनि कहते हैं। वस्तुस्थिति का बोध कर जिसने (संसार के) बीज को नष्ट कर दिया है, जो उसकी वृद्धि के लिए तरावट नहीं पहुँचाता, जो बुरे वितर्कों को त्यागकर अलौकिक हो गया है, आवागमन से मुक्त उस महात्मा को मुनि कहते हैं। मुनि सभी

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

सांसारिक-अवस्थाओं को जानकर उनमें से किसी एक की भी आशा नहीं करता। तृष्णा और लोलुपता से रहित वह मुनि पुण्य और पाप का संचय नहीं करता, क्योंकि वह संसार से परे हो गया है। जिसने सबको अभिभूत किया है, जान लिया है, जो बुद्धिमान् है, जो सब बातों में अलिप्त रहता है, जिसने सबको त्यागा है और तृष्णा का क्षय कर मुक्त हुआ है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। एकचारी, अप्रमत्त, निन्दा-प्रशंसा से अविचलित, शब्द से त्रस्त न होने वाले, सिंह की तरह किसी से भी त्रस्त न होने वाले, जाल में न फँसने वाली वायु की तरह कहीं भी न फँसने वाले, जल से अलिप्त पद्म-पत्र की तरह कहीं भी लिप्त न होने वाले, दूसरों को मार्ग दिखाने वाले, दूसरों के अनुयायी न बनने वाले उस ज्ञानीजन को मुनि कहते हैं। जो खम्भे की तरह स्थिर है, जिस पर औरों की निन्दा-प्रशंसा का प्रभाव नहीं पड़ता, जो वीतराग और संयत-इन्द्रिय है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जो ऋजु और स्थिरचित्त वाला है, जो पापकर्मों से परहेज करता है और जो विषमता तथा समता का खयाल रखता है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जो संयमी है और पाप नहीं करता, जो आरम्भ और मध्यम वय में संयत रहता है, जो न स्वयं चिढ़ता है और न दूसरों को चिढ़ाता है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जो अग्रभाग, मध्यभाग या अवशेषभाग से भिक्षा लेता है, जिसकी जीविका दूसरों के दिए पर निर्भर है और जो दायक की निन्दा या प्रशंसा नहीं करता, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जो मैथुन से विरक्त हो एकाकी विचरण करता है, जो यौवन में भी कहीं आसक्त नहीं होता और मद-प्रमाद से विरक्त तथा विप्रमुक्त है, उसे ज्ञानीजन मुनि कहते हैं। जिसने संसार को जान लिया है, जो परमार्थदर्शी है, जो संसाररूपी बाढ़ और समुद्र को पार कर स्थिर हो गया है, उस छिन्न ग्रंथिवाले को ज्ञानीजन मुनि कहते हैं।[3]

जैन-श्रमणाचार पर आक्षेप और उनका उत्तर

अहिंसा पर निर्मित जैन नैतिक-नियमों को अत्यन्त कठोर, अव्यावहारिक और अत्यधिक बौद्धिक कहकर उनकी आलोचना की गई है।

जहाँ तक अहिंसा के सिद्धांत की बात है, वह अत्यधिक बौद्धिकता पर आधारित नहीं माना जा सकता। अहिंसा का मूल करुणा, अनुकम्पा, समानता की भावना और प्रेम है, जो बौद्धिकता की अपेक्षा अनुभूति का विषय है, फिर इन पर आधारित नियम अतिबौद्धिक कैसे हो सकते हैं?

अहिंसा के आधार पर निर्मित जैन साधु-जीवन के नैतिक-नियमों की कठोरता के विषय में जो आक्षेप है, उसका परिमार्जन आवश्यक है। जहाँ तक जैन आचार-विधि के नैतिक-नियमों की कठोरता की बात है, उससे इन्कार नहीं किया जा सकता। आलोचकों के इस कथन में सत्यता का अंश अवश्य है। भगवान् बुद्ध ने भी गृधनाम पर्वत पर जैन-भिक्षुओं के कठोर आचरण तथा तपस्यादि देखकर उन भिक्षुओं के सम्मुख ही इस शारीरिक-कष्ट देने की पद्धति की आलोचना की थी।

इस आक्षेप का उत्तर कठोर आचरण के मूल्य को समझे बिना नहीं दिया जा सकता, यद्यपि इस प्रयास में हम आक्षेप के मुद्दे से थोड़े दूर होंगे, लेकिन यह आवश्यक है।

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

जैन आचार-पद्धति के इतिहास में हमने देखा था कि मध्यवर्ती जैन-तीर्थंकरों के युग में आचरण के नियमों में इतनी कठोरता नहीं थी, लेकिन जब मनुष्य में छल और प्रवंचना की वृत्ति अधिक विकसित हो गई, तब महावीर को कठोर नियमों का विधान करना पड़ा। मनुष्य भोगों में आसक्ति रखता है और यदि उस ओर जाने के लिए थोड़ा-सा भी मार्ग मिला, तो वह भोगों में गृद्ध हो आध्यात्मिक-साधना तज देता है। बुद्ध ने आचरण के कठोर नैतिक-नियम नहीं दिए, किन्तु इसका जो परिणाम बौद्ध श्रमण-संस्था पर हुआ, वह हमारे सामने है। उसी पवित्र बौद्ध-संघ की संतान के रूप में वामाचार-मार्ग जैसे अनैतिक और आचारभ्रष्ट सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ। व्यवस्थित कठोर नैतिक-नियमों के अभाव में वैदिक साधु-समाज की क्या स्थिति है, यह छिपा नहीं है। यदि जैन संघ-व्यवस्था में कठोर नैतिक-नियमों का अभाव होता, तो वह भी पतन के मार्ग में इनसे आगे निकल गई होती।

मन की चंचलवृत्ति जब छल और प्रवंचना से युक्त हो जाती है, तो उसके निरोध के लिए कठोर नैतिक-नियम आवश्यक हो जाते हैं। इन्द्रियाँ अपने विषयों की प्राप्ति के लिए बिना विवेक के प्रयत्न करती रहती हैं। यदि कठोर नैतिक-नियमों के पालन के द्वारा उन पर संयम नहीं रखा जाए, तो वे व्यक्ति का अहित कर डालती हैं।

कठोर आचार या शारीरिक-कष्ट सहने का दूसरा पहलू है- आत्मा और शरीर के एक मानने की भ्रान्ति को दूर करना। आध्यात्मिक-साधना में यह आवश्यक है कि आत्मा को शरीर से भिन्न समझा जाए। सामान्य रूप से लोग शरीर और आत्मा को पृथक् नहीं मानते और शारीरिक-पीड़ा और सुख को वास्तविक मान बैठते हैं। आत्मविकास की आचार-पद्धतियों में आत्मा को शरीर से परे माना जाना आवश्यक है। साधक कठोर नैतिक-नियमों के पालन से उत्पन्न कष्टों को इसलिए सहन करता है कि शारीरिक-कष्ट का उसकी आत्मा से कोई संबंध नहीं, वे उसकी आत्मा को सुखी-दुःखी नहीं कर सकते, इस तथ्य को समझ सके। वह कष्टों को निमंत्रण देकर इस बात की परीक्षा करता रहता है कि वह कितने अधिक रूप में शरीर और आत्मा के द्वैत की बात अपना सका है।

आचरण की कठोरता सापेक्ष है। आचरण का कौन-सा नियम कठोर है, यह नहीं कहा जा सकता। जो आचरण का नियम एक व्यक्ति को कठोर लगता है, वह दूसरे के लिए सरल हो सकता है। जैन-साधुओं का यह नियम होता है कि वे वाहन का उपयोग नहीं करते, वरन् सभी ऋतुओं में नंगे पांव पैदल चलते हैं। अब यह नियम उस व्यक्ति के लिए, जिसने गृहस्थ-जीवन में एक मील भी पैदल यात्रा नहीं की हो, कठोर होगा और उस किसान के लिए, जो रात-दिन पैदल चलता था, आसान होगा।

एक प्रकार का आचरण व्यक्ति को उस प्रकार के अभ्यास के पूर्व कठोर लगता है, लेकिन वही आचरण अभ्यास के बाद उसी व्यक्ति को सरल लगता है। जैन-साधु अपने केशों का मुण्डन नहीं करवाते, वरन् अपने हाथों से उखाड़ते हैं। नवदीक्षित साधु इसमें पीड़ा का अनुभव करते हैं, लेकिन 2-4 वर्षों के पश्चात् देखने में आता है कि उन्हें किसी प्रकार की पीड़ा का अनुभव नहीं होता। वे हँसते-हँसते

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

केशलुंचन कर लेते हैं। सामान्य व्यक्ति के लिए एक समय का भोजन छोड़ देना कठिन मालूम होता है, लेकिन ऐसे लोग भी देखने में आते हैं, जो 8-10 दिन तक निराहार और निर्जल रहकर भी जीवन के सामान्य क्रमों का यथावत् सम्पादन करते हैं। कठोरता का मापदंड स्थिर नहीं रखा जा सकता, वह तो व्यक्ति के साहस, अभ्यास और क्षमता पर निर्भर है।

जो लोग जैनाचार-विधि को अत्यन्त कठोर बताते हैं, उनका मापदंड अपना है। वे अभ्यास या आत्मसाहस की हीनता में ऐसा समझ बैठे हैं। वे स्वयं को उस परिस्थिति में रखने के बाद विचार करें, तो उन्हें कठिन नहीं लगेगा।

जैनाचार-विधि में श्रमण के सामान्य आचरणात्मक-सिद्धान्तों पर किए जाने वाले आक्षेपों में प्रथम आक्षेप उसकी निवृत्तिपरकता पर किया जाता है। पाश्चात्त्य-विचारकों ने इस वैराग्यवादी-धारणा की कटु आलोचना की है। उसे व्यक्ति की सांसारिक-परिस्थितियों से समायोजित करने की क्षमता का अभाव माना है। उनकी दृष्टि में निवृत्तिपरक आचार-व्यवस्था एक प्रकार की नैराश्यवादी-मान्यता है, जो व्यक्ति के साहस को कुंठित करती है। इसे मानव-जाति के विकास में घातक माना गया है और पलायनवादी मनोवृत्ति कहकर इसकी आलोचना की गई है।

इस आक्षेप के उत्तर के पूर्व हमें निवृत्ति के वास्तविक रूप को जानना होगा। निवृत्ति का अर्थ है- अशुभ, पापकारी या हिंसक कार्यों से दूर होना। जैन ही क्यों, किसी भी निवृत्तिपरक आचार-व्यवस्था ने कभी शुभ, अहिंसक, परोपकारी कार्यों का निषेध नहीं किया है। निवृत्ति का अर्थ संसार से या समाज से पलायन नहीं है। सामान्य विचारक को वह संसार से पलायन इसलिए दिखाई देता है कि इस जगत् में प्रवृत्ति के नाम पर जो स्वार्थ एवं स्वहित की धारणा और हिंसक-आचरण का वर्चस्व है, साधक उससे अपने को दूर कर लेता है। दूसरे, निवृत्तिपरक-आचरण साधक की सामंजस्य-क्षमता के अभाव का परिचायक नहीं है, वरन् साधक स्वयं उसे करना नहीं चाहता है, क्योंकि वह उसे विकास की सही दिशा नहीं मानता।

इसे निराशावादिता भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि साधक चरम लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है, साथ ही पूर्णता-प्राप्ति का यह लक्ष्य सहज प्राप्य नहीं है, अतएव ऐसे मार्ग के पथिक में साहस का अभाव नहीं हो सकता, वरन् उसके हृदय में तो साहस का सागर हिलोरे मारता है। वैराग्यवादी-धारणा को सामाजिक-हित में घातक मानना भी उचित नहीं, क्योंकि प्रथम तो, वैराग्य का लक्ष्य आत्म-विकास के साथ ही जन-कल्याण भी रहता है। साधक का एक काम यह भी है कि वह साधना के द्वारा जिस सत्य को प्राप्त करे, उसे उस समाज को भी बताए जिसके द्वारा अपनी शारीरिक-आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। जैन साधु के लिए यह आवश्यक है कि वह लोगों को सन्मार्ग बताए।

समाज में नैतिक-व्यवस्था बनाए रखने के लिए वे साधक प्रहरी और प्रेरणासूत्र होते हैं, जो समाज से अल्पतम लेकर नैतिक-मूल्यों को जीवित रखते हैं। इस प्रकार, श्रमण-साधक समाज-हित के

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org

घातक नहीं हैं, वरन् वे समाज-व्यवस्था में एक महत्त्वपूर्ण सेवा अर्पित करते हैं। वे समाज के सामने कठोर यातनाएँ सहकर कर्त्तव्यच्युत नहीं होते हुए अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उनका जीवन 'सादा जीवन, उच्च विचार' का प्रतीक बन, समाज के प्राणियों में सद्भावना-सहयोग और परोपकार की वृत्ति जागृत करता है, वे लोगों को स्वार्थ के लिए जीना नहीं सिखाते, वरन् स्व-पर कल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

यदि हम समाज में नैतिक-व्यवस्था चाहते हैं, सद्गुणों का विकास चाहते हैं, आपस में छीना-झपटी समाप्त करना चाहते हैं, तो इन निवृत्तिपरक-जीवन बिताने वाले साधकों के महत्त्व को समझना होगा।

लोग निवृत्तिपरक-जीवन जीने वाले साधकों को समाज पर भार समझते हैं। उन्हें सामाजिक-श्रम का शोषक कहा जाता है। किन्तु उन लोगों को छोड़कर, जो केवल साधुवृत्ति के नाम पर पेट पालते हैं, सच्चे साधु या साधक को समाज के श्रम का शोषक नहीं कहा जा सकता। हम अपराधों को रोकने, या धन-सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए करोड़ों रुपए व्यय करते हैं, पुलिस, चौकीदार और बड़े-बड़े न्यायाधीश रखते हैं, उन्हें सामाजिक-श्रम का शोषक नहीं कहा जाता, लेकिन जो रोटी का टुकड़ा और कपड़ा लेकर समाज में सद्गुणों के विकास के लिए प्रयास करे, उपदेश दे, लोगों को अनैतिक-आचरण से विमुख रखे और स्वयं के आचरण से आदर्श उपस्थित करे, उसे हम सामाजिक-श्रम का शोषक कहें, यह बात बुद्धिगम्य नहीं लगती। यह सबसे बड़ी मूर्खता है कि हम सदाचार के वृक्ष को लगाने वाले की अपेक्षा दुराचार की घास खोदने वाले को अधिक महत्त्व देते हैं, जिसका परिणाम स्थायी नहीं है।

श्रमणवर्ग पर एक आक्षेप यह लगाया जाता है कि सामाजिक-विकास के लिए सभी सदस्यों का सहयोग अपेक्षित होता है। यही नहीं, वरन् समाज के प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य भी होता है कि वह सामाजिक-विकास में अपना भाग अदा करे, किन्तु श्रमण-वर्ग समाज के विकास में अपना योगदान नहीं देता है और सामाजिक-विकास में बाधक है। इस आक्षेप का मूल कारण यह है कि हम केवल भौतिक-विकास को ही विकास मान लेते हैं और नैतिक तथा आध्यात्मिक-विकास को भूल जाते हैं। भौतिक-विकास सामाजिक-विकास का एक अंग हो सकता है, लेकिन वह पूर्ण सामाजिक-विकास नहीं है। दूसरे, भौतिक-विकास को नैतिक और सामाजिक-विकास से अधिक मूल्यवान् भी नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में जैन साधु-वर्ग, जो नैतिक और आध्यात्मिक-विकास में सहयोग देता है, सामाजिक-विकास का बाधक नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैन आचार-दर्शन में श्रमण-संस्था वैयक्तिक एवं सामाजिक-जीवन में नैतिकता की प्रहरी है। उसके मूल्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

सन्दर्भ:-

1. दशवैकालिक, अध्ययन 10

2. उत्तराध्ययन, 15.1-16

3. सुत्तनिपात 12.1-3

-निदेशक, प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

Jain Educationa International For Personal and Private Use Only www.jainelibrary.org